सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 54 ; अंक: 02-03

मई-जून 2021

प्रकाशन तिथि : 01.06.2021

मूल्य – एक प्रति : 20/–, द्विवार्षिक : 380/–

अमृतकण

यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे पियः।।

(श्रीमद्भगवद् गीता)

जिस व्यक्ति से किसी भी जीव को उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्याजन्य संताप) भय और उद्वेग (शुद्धमन वाला) है वह भक्त मुझे प्रिय है।

■ ■ ■

अभिर्द्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।।

(मनुस्मृति)

शरीर की शुद्धि जल से होती है, मन सत्य से शुद्ध होता है, आत्मा की शुद्धि विद्या और तप से होती है तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

■ ■ ■

यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
ता वदात्महिंत कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति।।

(चाणक्य सूत्र)

जब तक शरीर निरोग है और मृत्यु दूर है तभी तक अपने कल्याण का उपाय कर लेना चाहिये। क्योंकि मृत्यु हो जाने पर कोई कुछ नहीं कर सकता।

■ ■ ■

यस्तु विज्ञानवान्भवन्ति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पद् माप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।

(कठोपनिषद्)

जो विज्ञान का ज्ञाता है जिसकी आत्मा, मन के साथ नहीं बल्कि मन आत्मा के साथ लगा है, जिसका मन शुद्ध और पवित्र विचारों वाला है ऐसा जीवात्मा ही परम परमात्मा पद को उपलब्ध हो सकता है, जिसके बाद फिर उस जीवात्मा का जन्म नहीं होता।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 54 मई 2021 अंक : 02

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्त धीरा
युक्तत्मानः सर्वमेवाविशन्ति।।

अर्थात् – सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषिलोग इस परमात्मा को पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने परमात्मा में संयुक्त कर देने वाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर से प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मा में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1. विशेष लेख- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज 3

2. सम्पादकीय 7

3. श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- डॉ. विजय सिंह 10

4. सोई जानई जेहि देहुं जनाई.....(4)- जगदीश राए बंसल 14

5. नि:स्वार्थ सेवा- श्री मेहेर बाबा की 'अखण्ड ज्योति' से 19

6. भोगवाद और आत्मवाद- स्व. श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार 24

7. गुरु-मंत्र का सहारा ले- श्री विष्णुप्रसाद व्यास 33

8. पंचवाद-दर्शन-समन्वय - उपाध्याय श्री अमरमुनि 36

एक प्रति	: रु. 20
वार्षिक शुल्क	: रु. 200
द्विवार्षिक	: रु. 380
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 1200

विशेष लेख—

प्राणायाम का अधिकारी कौन?

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

हमने इससे पहले अपने लेख में प्राणायाम की परिभाषा बतलाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और प्राणायाम की परिभाषा समझाने के साथ–साथ उसके करने की क्या विधि है, यह भी समझाने का पूरा–पूरा प्रयत्न किया गया है। प्राणायाम में लगाये जाने वाले तीनों बंधों का वर्णन भली प्रकार से कर दिया गया है। प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को चाहिए कि यदि वह प्राणायाम जैसी कठिन क्रिया को प्रारम्भ करते हैं तो अपनी योग्यता की जांच भली प्रकार से कर लें। शिव–संहिता में भगवान शिव ने योगोपासक साधकों के विविध प्रकार के साधन लिखे हैं, उनमें कौन साधक किस योग का अधिकारी है, भिन्न–भिन्न प्रकार से समझाया है। उनमें से सर्व साधारण के हित के लिए सभी प्रकार के साधकों के लक्षण हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं। अधिकारी के विभागानुसार ही साधक अपनी उन्नति एवं विकास कर सकता है। जो साधक जिस विषय का अधिकारी नहीं है, यदि वह उस विषय की ओर अपना कदम बढ़ाता है तो वह उसकी अनधिकार चेष्टा है। परिणाम में कभी भी इष्ट सफलता को नहीं पा सकता। अतः साधक को चाहिए कि शास्त्रोक्त अधिकारानुसार ही स्वायत्त चेष्टावान होकर ही अपने आप को उन्नति के पथ पर बढ़ाये।

तीन प्रकार के योगाधिकारी

जिनमें से प्रथम मृदु साधक के लक्षण निम्नांकित पंक्तियों में लिखे जा रहे हैं—

मन्दोत्साही सुसंमूढो, व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः।।
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽति निष्ठुरः।
मंदाचारो मंदवीर्यो, ज्ञातव्यो मृदुमानवः।।
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्।
मन्त्र योगाधिकारी स, ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्।।

अर्थात् मंदोत्साही तमसावृत्त मूढ़चित्त वाला, आधिव्याधियों से ग्रसित, गुरु निन्दक, लोभी, जिसके मन बुद्धि में हर समय पाप–वासनायें रहती हों, बहुत अधिक भोजन करने वाला, स्त्री का वशानुवर्ती, कठोर बोलने वाला, मंद कर्मों वाला, मंद वीर्य वाला, इस प्रकार का जो साधक है वह मंदाधिकारी है। ऐसा साधक जो मंत्र योग का अधिकारी हो जिसमें ये लक्षण मिलते हों, उसको चाहिए कि वह साधक स्वाध्याय–परायण हो जाय। स्वाध्यायशील होकर ही समाधि प्राप्त करने का प्रयत्न करे। स्वाध्याय से ही उसको सफलता मिल सकती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति स्वाध्याय परायण होकर अवश्य ही समाधि को पा सकता है। क्योंकि इस विषय में शास्त्र की आज्ञा है कि–

स्वाध्यायाद्योगमासीत,
योगास्त्त्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग संपत्त्या
परमात्मा प्रकाशते।।

ऐसे साधक को मन्त्र योग प्राप्त करके उसके जप में लग जाना चाहिए। जब जप करता–करता थक जाय तब ध्यानाभ्यास में लग जाय। इस प्रकार जप और ध्यान परायण हुआ व्यक्ति समाधि के द्वार तक पहुँच जाया करता है। ऐसा साधक मन्द योग का ही अधिकारी हो सकता है।

हठ योग का अधिकारी

स्थिर बुद्धिर्लग्ने युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि।।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः।।
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यास योगतः।
एतस्मै दीयतो धीरा हठ योगश्च सांगतः।।

अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला, जिसके निश्चय बार–बार बदलते न रहते हों, लय योग के साधनों में सामर्थ्य रखता हो, सब प्रकार से स्वतन्त्र हो, किसी भी प्रकार की किसी की आधीनता न हो, वीर्यवान् हो, और जिसके विचार ऊँचे हों, प्राणी मात्र पर दया की भावना मन में जगती हो, क्षमाशील हो, समाधि योग में प्रवृत्ति हो, सत्य जिसके मन में वास करता हो, श्री गुरुदेव के चरणारविन्द का पुजारी हो, शूर हो, योगाभ्यास में पूरी–पूरी लगन हो, इस

साधक को अधिमात्र साधक कहते हैं। ऐसा साधक हठ योग का अधिकारी है। हठाभ्यासरत यह साधक जल्दी से जल्दी उन्नति को प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त आगे जो लक्षण बतलाये जा रहे हैं। वह उत्तम अधिकारी के लक्षण हैं।

सब प्रकार से पूर्ण योगाधिकारी

महावीर्यान्वितोत्साही
मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यास शीलश्च
निर्मोहश्च निराकुलः।।
नवयौवन संपन्नो मितहारी
जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो
दाता सर्वजनाश्रयः।।
अधिकारी स्थिरो धीमान्
यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च
गुप्तचेष्टः प्रियं वदः।।
शास्त्र विश्वास सम्पन्नो
देवता गुरु पूजकः।
जन संग विरक्तश्च
महाव्याधि विवर्जितः।।
अधिमात्र तरो ज्ञेयः
सर्व योगस्य साधकः।
त्रिभिस्संवत्सरै सिद्धि
रेतस्य नाम संशयः।।
सर्व योगाधिकारी स
नाम कार्य विचारणां।।

अर्थात् महावीर्यवान्, उत्साहयुक्त, स्वरूपवान्, सूरता सम्पन्न, शास्त्रज्ञ, अभ्यासशील, मोह से रहित, आकुलता रहित अर्थात् सावधान, नव यौवन सम्पन्न मिताहारी, इन्द्रियों को

वश में रखने वाला, निर्भय, पवित्र आचार वाला, चतुर, दानशील, शरणागत पालक, स्थिर चित्त बुद्धिमान, सन्तोषयुक्त क्षमावान, शीलवान, धार्मिक कर्मों को गोप्य रखने वाला, प्रिय सत्यवादी शास्त्र में विश्वास देवता और गुरुपूजक, जन संग रहित, महाव्याधि रहित, ऐसे गुण जिसमें हों वह सर्वयोग का साधक है। ऐसे साधक को तीन वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है इसमें बिलकुल भी संशय नहीं है। यह साधक सर्व योग का अधिकारी है ऐसे साधक को श्री गुरुदेव जी समस्त योग का उपदेश कर देते हैं। इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहनी है। इस प्रकार से योग के विभिन्न अधिकारी साधकों का वर्णन शिव संहिता में भगवान् शिव ने किया। योग दर्शन में भी अधिकार–भेद भली प्रकार समझाया गया है। भगवान् पतंजलि देव ने इस प्रकार के अधिकारियों को समझाने के लिए तीन सूत्रों का उल्लेख किया उनके विशेष व्याख्यान की इस लेख में आवश्यकता नहीं है; किन्तु फिर भी संकेत मात्र में मैं यहाँ लिखा देना उचित समझता हूँ।

श्रद्धावीर्यस्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् जो व्यक्ति श्रद्धा वीर्य के द्वारा स्मृति समाधि को पैदा करके प्रज्ञा पूर्वक आगे बढ़ता है उसका रास्ता अन्तराय रहित हो जाता है ऐसे व्यक्ति के भी तीन–तीन भेद हो जाते हैं। मृदु संवेग, मध्य संवेग, तीव्र संवेग। जिनके लिए भगवान् पतंजलि देव ने—

तीव्र संवेगानासन्नः—कह करके तीव्र अधिकारियों के लिए जल्दी समाधि लाभ का फल लिखा है। हमारे पहले लेखों में प्राणायाम की परिभाषा और उसकी विधि का भली प्रकार वर्णन किया जा चुका है। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी मनुष्य को अधिकार–भेद समझकर पग बढ़ाना बहुत ही आवश्यक है। कम से कम हठयोग का अधिकारी ही प्राणायाम में प्रवृत्त हो सकता है। यदि साधक अधिक मात्रा में तम योग का अधिकारी हो तो सर्वोत्कृष्ट है ही अन्यथा इस लेख में ऊपर हठयोग के अधिकारी के लक्षण बतलाये गये हैं उतना तो आवश्यक है ही। अतः प्राणायाम के साधक को अपने अधिकार को शास्त्रोक्त निश्चय करके उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। अन्यथा मंत्र योग, राजयोग आदि का अभ्यास करना चाहिए जिससे पतन न हो।

सम्पादकीय—

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

“मच्चित्तः सततं भव”

—योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

श्री मद्भगवद्गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का पूर्ण समावेश है। विद्वानों ने गीता के पहले अध्याय से छटे अध्याय तक कर्मयोग, सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्ति योग एवं तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक ज्ञान योग या मोक्ष योग का वर्णन है ऐसा माना है।

गीता का प्रारम्भ 'विषादयोग' से होता है। अर्जुन युद्ध में अपने सामने प्रतिपक्ष के वीर योद्धाओं को देखता है तो मन दुःखी होने लगता है। वह देखता है जिनसे मैं लड़ना चाहता हूँ वे तो मेरे अत्यन्त पूज्य गुरुजन हैं जिनमें गुरु द्रोणाचार्य हैं, कृपाचार्य हैं तथा दादा भीष्म पितामह हैं। मामा, चचेरे भाई और निकट के सम्बन्धी हैं। तब अर्जुन को अचानक दुःख होता है, मन विषाद, संताप से भर जाता है अज्ञान उसे घेर लेता है। वह सोचता है अपने सुख और राज्य के लिये, भू–भाग के लिये लड़ रहा हूँ। अरे! यह तो क्षणिक वस्तुयें हैं नाशवान हैं। नहीं, नहीं! मैं युद्ध नहीं करूँगा। इससे तो भीख माँग कर खाना अच्छा है। युद्ध में रक्त से सने हुये भोगों को पाकर भी मुझे कभी शान्ति नहीं मिलेगी। अरे! दुर्योधन कर्ण जैसे लोग तो आततायी हैं, इन्हें मारने से तो पाप ही लगेगा, ऐसा सोचकर उसका चित्त अत्यन्त दुःख से भर जाता है और फिर भगवान से कहने लगते हैं। मेरा मन कमजोर हो रहा है, शरीर काँप रहा है खड़े होने की सामर्थ्य भी नहीं है। अब मैं यह युद्ध रूपी पाप कर्म नहीं करूँगा। ऐसा कहकर क्लान्त चित्त होकर रथ के पृष्ठ भाग में बैठ जाता है। अर्जुन के आँखों से अश्रु धारा बह रही है। अर्जुन की ऐसी दयनीय दशा देखकर भगवान कहते हैं—'इस विषम परिस्थिति में युद्ध के मैदान में तू इस तरह की बहकी–बहकी बातें कर रहा है। ऐसे तो कायर लोग करते हैं यदि अब युद्ध नहीं करोगे तो तुम अनन्त काल तक इतिहास में कायर स्वार्थी आदि मानकर निन्दा होती रहेगी और तुम्हें पाप भी लगेगा।

तुम कहते हो—आततायीयों को मारने से पाप लगेगा सो अर्जुन ऐसी बात नहीं है। जो लोग दूसरों की भूमि का हरण करते हैं, स्त्री का हरण करते हैं, बस्ती में आग लगाते हैं, विष देकर लोगों को मारने का प्रयत्न करते हैं ऐसे आततायी लोगों को मार देने में कोई पाप

नहीं होता है। भगवान् अर्जुन के धर्म सम्बन्धी कई शंकाओं का निराकरण करते हैं।

युद्ध में मरने, मारने की दशा को देखकर घबराये हुये अर्जुन को भगवान् आत्मतत्व की बात समझाते हैं। आत्मा कभी मरती नहीं है यह तो अजर, अमर है। तुम अपने इस स्वरूप को समझ कर शोक मत करो और युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। अपने चित्त को स्थिर रखो। सुख में, दुःख में, हर्ष में, विषाद में चित्त को एक जैसा रखो यही वास्तविक योग है 'समत्वं योग उच्चते।' भगवान कहते हैं– अर्जुन! तू मुझे याद करता हुआ युद्ध कर। ऐसा करने से तू शाश्वत शान्ति को पाता हुआ कल्याण के मार्ग पर बढ़ता चला जायेगा। भगवान् की भक्ति का उपदेश करते हुये भगवान कहते हैं–

'मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'।

गीता 9/34

अर्जुन! तू अपने मन को मुझ में ही लगा। मेरा भक्त बन, मेरा ही नमन–पूजन कर। और मुझे ही प्रणाम कर। ऐसा मेरे परायण हुआ तू अन्ततोगत्वा मुझे ही प्राप्त कर लेगा। आगे के अध्यायों में भी भगवान ने बार–बार शरणागति की बात दृढ़ता से कही है। बार–बार घुमा फिराकर शरणागत होने की बात कहते हैं भगवान्। योग में शरणागत होने को ही ईश्वर प्रणिधान कहा गया है। भगवान यह मानते हैं कि योग के कठिन साधना के मार्ग पर चलना अर्जुन के लिये मुश्किल है इसीलिये शरणागति ही अर्जुन जैसे भक्त के लिये सरलतम मार्ग है। बारहवें अध्याय में आठवें श्लोक में भगवान् कहते हैं अर्जुन! तू अपने मन को मुझ ही में लगा दे, बुद्धि का निवेश भी मुझ में कर दे ऐसा करने से तुम मुझ में ही रहने लगोगे। इसमें संशय की बात नहीं है। आगे अठारहवें अध्याय के 64वें श्लोक में फिर भगवान कहते हैं–मैं तुम्हें गुह्यतम अर्थात् परमगोपनीय बात कहता हूँ। तुम मेरे इष्ट हो, प्रिय हो इस कारण से तुम्हारे कल्याण की बात कहता हूँ। सब कुछ मुझे समर्पित कर दो। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे। इसलिये सब मत–मतान्तर कर्मकाण्ड आदि का त्याग कर पूर्ण रूप से मेरी शरण में आ जा। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। गीता–18/66

इसलिये हे अर्जुन! बुद्धियोग का सहारा लेकर सतत् मुझ में चित्त लगाये रखो। यदि मुझ में चित्त लगाये रखोगे तो तुम कठिन से कठिन संकटों से पार हो जाओगे और यदि अहंकार के वश में होकर मेरी बातों को नहीं सुनोगे तो बर्बाद हो जाओगे। गीता 18/55–56

इस प्रकार से भगवान् ने अपने मन और बुद्धि को उनमें ही लगाये रखने का उपदेश किया है। भगवान् कहते हैं–यदि यह सोचते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तुम्हारा यह मानना

भी गलत है, भ्रम है। तुम्हारा स्वभाव तुम्हारी प्रकृति तुम्हें युद्ध रूपी कर्म में अवश्य लगाएगी। इस सम्बन्ध में तुम परवश हो। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और सभी को उसके कर्म एवं संस्कार के अनुसार अपनी माया से घुमाता रहता है। इस नियम को समझ कर जो ईश्वर के शरणागत हो जाता है वह सदा ही कल्याण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार से गीता में भगवान को सतत् भगवान का स्मरण करते हुए युद्ध करने की आज्ञा दी—जैसा कि कहा भी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

अर्थात् तू निरन्तर मुझे याद करता हुआ युद्ध में लग जा इसी में तेरा कल्याण निहित है। अज्ञान से ग्रसित अर्जुन के लिये परम हितकारी समर्पण—योग का उपदेश ही अर्जुन के कल्याण का मुख्य साधन है। यही भक्ति योग है जो परमात्मा के स्वरूप का प्रदान करने वाला है।

पवित्र प्रज्ञा

जैसे वायु का हल्का सा झोंका भी निस्सार तिनके को उड़ा देता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मूढ़ पुरुष को थोड़ी सी आपत्ति भी शोकाकुल कर देती है।

तीक्ष्ण और विशुद्ध बुद्धि से युक्त पुरुष बिना शास्त्राभ्यास और बिना दूसरों का सहारा लिए भी संसार—सागर से अनायास ही पार हो जाता है।

बुद्धि की मन्दता समस्त दुःखों की चरम सीमा है। अतः विशुद्ध बुद्धि की अभिवृद्धि के लिए वही प्रयत्न करना चाहिए जैसा प्रयत्न धन—सम्पदा आदि के उपार्जन के लिए किया जाता है।

पवित्र प्रज्ञा (बुद्धि) चिन्तामणि के समान है। कल्पलता के समान मन—चाहा फल देती है। श्रेष्ठ पुरुष पवित्र प्रज्ञा के द्वारा संसार—सागर से पार हो जाता है किन्तु अधम मानव उसमें डूब जाता है।

—योग वासिष्ठ

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्या

—डॉ. विजय सिंह

दन्तवक्र बड़ा शक्तिशाली था। वह मात्र एक गदा लेकर भगवान श्रीकृष्ण की ओर झपटा। भगवान भी एक गदा लेकर रथ से कूद पड़े। पहले दन्तवक्र ने अपनी कड़वी बातों से श्रीकृष्ण को चोट पहुँचाने की चेष्टा किया। फिर भगवान के सिर पर गदा प्रहार कर गरजा। उसके प्रहार से अविचलित भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी कौमोद की गदा से उसके वक्षस्थल पर एक ही प्रहार किया और उसका वक्षःस्थल फट गया, मुँह से खून उगलता धरती पर गिरा। आश्चर्य! सब प्राणियों के सामने ही दन्तवक्र के मृत शरीर से एक अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति निकली और भगवान श्रीकृष्ण में समा गयी।

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप।। 10।।

अ. 78 स्कं. 10

दन्तवक्र का भाई विदूरथ भाई की मृत्यु से क्रोधित हो जब भगवान श्रीकृष्ण पर मारक प्रहार करना चाहा तब भगवान ने अपने चक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। यह देख मुनि, सिद्ध गन्धर्व, विद्याधर, अप्सरायें, पितर, यक्ष एवं किन्नर-चारण सभी भगवान श्रीकृष्ण का यशगान करते हुए पुष्पों की वर्षा करने लगे। योगेश्वर एवं जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण इसी प्रकार अनेकों लीला करते रहते हैं। जो पशुओं के समान अविवेकी हैं, वे उन्हें कभी हारते भी देखते हैं, परन्तु वास्तव में वे सदा-सर्वदा विजयी ही हैं।

एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवाञ्जगदीश्वरः।
इयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः।। 16।।

अ. 78 स्कं. 10

इधर कौरवों-पाण्डवों की युद्ध-तैयारी की बात जब बलराम जी को ज्ञात हुआ तो, वे किसी पक्ष से लड़ना नहीं चाहते थे। अतः वे द्वारका से तीर्थ स्नानार्थ करने के बहाने चले गये। बलराम जी बारह महीने एकाग्रचित्त से तीर्थों में स्नान करते हुये भारतवर्ष की परिक्रमा में विचरण करते रहे। नैमिषारण्य में ऋषियों के कहने पर बल्वल का उद्धार किया। यह राक्षस यज्ञशाला को पर्वों में आकर मल-मूत्र से दूषित कर देता था। बलराम जी आकाश चारी

बल्वल दैत्य को अपने दिव्य आयुध हल के अगले भाग से खींचकर उस ब्रह्म द्रोही के सिर पर एक मूसल कस कर जमाया। उसका ललाट फट गया और मर गया। ऋषियों ने बलराम जी की स्तुति करते हुये दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण भेंट किये। एक ऐसी वैजयन्ति–माला भी दी जो कभी भी न मुरझाने वाले कमल पुष्पों से युक्त था।

वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम्।
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च।। 8।।

अ. 79 स्क. 10

श्री बलराम जी ने पूरे भारत के तीर्थों में भ्रमण करते हुये जब प्रभास क्षेत्र में आये तो उन्हें लोगों से पता चला कि कौरव–पाण्डव के युद्ध में अधिकांश क्षत्रियों का संहार हो गया है। जिस दिन रणभूमि में भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे थे, उसी दिन बलराम जी उन्हें रोकने के लिये कुरुक्षेत्र जा पहुँचे। उस समय भीमसेन तथा दुर्योधन क्रोध में भरकर पैंतरे बदलते हुये एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। श्री बलराम जी ने दोनों को सम्बोधित कर कहा–व्यर्थ का युद्ध मत करो, अब इसे बन्द कर दो। वे बलराम जी की बात नहीं माने। तब विशेष आग्रह न करते हुये बलराम जी द्वारिका लौट गये। कुछ काल बाद वे पुनः नैमिषारण्य गये और उन ऋषियों को विशुद्ध तत्वज्ञान का उपदेश किया, जिससे वे इस सम्पूर्ण विश्व को अपने–आप में और अपने–आप को सारे विश्व में अनुभव करने लगे।

तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः।
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः।। 31।।

अ. 79 स्क. 10

अगले अध्याय अस्सी में भगवान के द्वारा सुदामाजी का स्वागत का बड़ा मनोहारी विवरण वर्णित है। भगवान श्रीकृष्ण में तल्लीन श्री शुकदेव जी परीक्षित्! से बोले–एक ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण का परम मित्र था। वे परम ब्रह्मज्ञानी, विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रीय थे। वे गृहस्थ होने पर भी संग्रह–परिग्रह में न पड़ कर प्रारब्ध अनुसार जो कुछ मिल जाता, उसी में संतुष्ट रहते। उनकी पत्नी भूख से दुबली एवं दरिद्रता की प्रतिमूर्ति पतिदेव से मुरझाये मुँह से बोली। पतिदेव! भगवान श्रीकृष्ण आपके सखा हैं, वे शरणागत वत्सल हैं। आप उनके पास जाइये। वे हमारे कष्ट दूर कर देंगे।

सुदामा जी ने सोचा–धन की तो कोई बात नहीं परन्तु भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन का लाभ तो जाने से मिल ही जायेगा। उन्होंने ब्राह्मणी के दिये चार मुट्ठी चिवड़े भगवान को भेंट हेतु लेकर द्वारिका के लिये चल पड़े। भागवत् में यहाँ द्वारिका का वैभव का वर्णन विस्तार

से किया गया है। भगवान ने सुदामा जी को दूर से ही देखकर सहसा उठ खड़े हुये और उनके पास जाकर उन्हें आलिंगन में बाँध लिये। उनके कमल समान नेत्रों से प्रेम के आँसू बरसने लगे। भगवान ने उन्हें अपने पलंग पर बिठाकर पाँव पखार करके, पूजन की सामग्री द्वारा पूजा किया। भले पधारे ऐसा कहकर स्वागत किया। सुदामा जी फटे–पुराने वस्त्र पहने हुये थे। देह की सारी नसें दिखायी पड़ती थीं। महल के लोग विस्मित थे। वे सोच रहे थे कि इस नंग–धड़ंग, निर्धन, भिखमंगे ने ऐसा कौन–सा पुण्य किया है कि श्रीकृष्ण स्वयं आदर सत्कार कर रहे हैं।

भगवान श्रीकृष्ण एवं सुदामा जी एक–दूसरे का हाथ पकड़ गुरुकुल में घटित घटनाओं का स्मरण कर रहे थे। भगवान ने सुदामा जी के गृहस्थी जीवन के बारे में पूछा और कहा–विद्वन्! मुझे मालूम है कि आपका चित्त गृहस्थी में भी प्रायः विषय–भोगों में तथा धन आदि में भी आपकी कोई प्रीति नहीं है। अहा! जब हम दोनों गुरुकुल में निवास करते थे तब सचमुच गुरुकुल में ही सद्–तत्व का ज्ञान होता है तथा अज्ञानान्धकार मिटता है। इस संसार में माता–पिता प्रथम गुरु है। इसके बाद उपनयन–संस्कार कर्ता आचार्य दूसरे गुरु हैं। वे मेरे ही समान पूज्य हैं। तीसरे परमात्मा को प्राप्त कराने वाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है।

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः।। 32।।

अ. 80 स्कं. 10

प्यारे मित्र ! गुरु के स्वरूप में स्वयं मैं हूँ। इस जगत में जो लोग अपने गुरुदेव के उपदेशानुसार अनायास ही भवसागर पार कर लेते हैं, वे अपने स्वार्थ और परमार्थ के सच्चे ज्ञाता हैं।

नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्।। 33।।

अ. 80 स्कं. 10

भगवान ने कहा–मित्र ! ब्रह्मचारी धर्म, वानप्रस्थी के तप धर्म तथा सन्यासी के धर्म से उतना सन्तुष्ट नहीं होता, जितना गुरुदेव की सेवा–सुश्रूषा से सन्तुष्ट होता हूँ।

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा।। 34।।

अ. 80 स्कं. 10

गुरु के ऋण से मुक्त होने के लिये सत–शिष्यों का इतना ही कर्त्तव्य है कि वे विशुद्ध भाव से अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेव की सेवा में अर्पण कर दें। प्रिय मित्र जिस

समय हम लोग गुरुकुल में निवास कर रहे थे, हमारे जीवन में ऐसी–ऐसी अनेकों घटनाएँ घटित हुई थीं। (समिधा लाने जंगल में सुदामा जी और श्रीकृष्ण गये, शीत का समय उधर बेमौसम की बारिस पूरी रात्रि वन में ही भूखे प्यासे ठिठुरते रहे थे)। इनमें सन्देह नहीं कि गुरुदेव कृपा से ही मनुष्य शान्ति पूर्णता से प्राप्त करता है।

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।
यद वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ।। 41।।

इत्थं विधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये।। 43।।

अ. 80 स्कं. 10

सुदामा जी ने कहा–जगदगुरु श्रीकृष्ण! आप सत्यसंकल्प परमात्मा हैं, हमें आपके साथ गुरुकुल में रहने का सौभाग्य मिला। प्रभो! आप ही चारों पुरुषार्थ के मूल हैं। आपने मानव–लीला करते हुये वेदाध्ययन हेतु गुरुकुल में निवास किया, आपकी महत्ता को कौन जान सकता है?

मृत्यु और अमरत्व

हर एक के पीछे मृत्यु का डर लगा हुआ है। परन्तु मृत्यु, दुःख, कष्ट आदि जो हैं, वे हमारे उत्तम शिक्षक हैं, इस दृष्टि से देखने से मृत्यु का महत्त्व ध्यान में आ सकता है। गलतियों और अशुद्धियों से बचाने की सूचना दुःखों और कष्टों से मिलती है। मृत्यु इस नश्वर जगत् की साक्षी दे रहा है और नश्वर जगत में शाश्वत आत्मा है, यह ज्ञान मृत्यु को देखने से ही होता है। मृत्यु न होगी, तो जन्म भी नहीं होगा। पुत्र जन्म का उत्सव देखना है, तो पूर्वजों की मृत्यु अवश्य सहन करनी चाहिए। इस प्रकार मृत्यु हमारी उन्नति में विलक्षण सहायता करती है।

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

सोई जानई जेहि देहुं जनाई.....(4)

जगदीश राए बंसल ''अधम'' 9212434003

गतांक से आगे–

सूर्य देव से सहायता का प्रयास–सन् 1986 की बात है। मैंने उज्जैन में अष्टाक्षरी मन्त्र से सूर्य नारायण की उपासना की थी। प्रात:काल आदित्य हृदय स्त्रोत का पाठ करके सूर्य नारायण को अर्घ देता था। परिणामत: सूर्य नारायण ने कृपावंत हो कर मुझे ध्यान में दर्शन दिए। जैसे–जैसे सूर्य देव मेरे निकट आते गए उनकी प्रचण्ड गर्मी बिल्कुल कम होती गई। दर्शन के समय उनकी दूरी 15 फीट से अधिक नहीं थी। उनको मेरे मन की बात का पहले ही आभास था कि मैं कठिन काल से गुजर रहा हूँ। अत: मेरे कुछ भी कहने से पहले उन्होंने मेरी सहायता से असमर्थता व्यक्त कर दी और आशीर्वाद देकर अन्तर्ध्यान हो गए। मुझे कुछ भी अनुनय–विनय करने का अवसर ही नहीं मिला। मेरा ध्यान टूट गया।

मेरा कोई न सहारा बिन तेरे–सूर्य देव भगवान द्वारा असमर्थता के पश्चात् मैं एक दिन ध्यान में माँ दुर्गा की शरण में गया। क्योंकि मेरे साधना काल में माँ दुर्गा ने मुझे 3–4 बार दर्शन देकर कृतार्थ किया था। प्रत्येक बार बेटा, बेटा कहकर अपना वरद हस्त मेरे सिर पर रख कर आशीर्वाद दिया था। एक बार तो माँ ने मेरा प्रारब्ध चुपचाप अपने ऊपर ले लिया था। कुछ समय पश्चात् माँ की गर्दन झुकने लगी। सारे जग की जग जननी आदि–शक्ति माँ मेरे कलुषित प्रारब्ध को धारण करने से परेशानी अनुभव कर रही थी। मैं आश्चर्यचकित था, कि लीलाधारी की लीला को मैं आज तलक नहीं जान सका। माँ ने मधुर वाणी से समझाया कि पूर्व कृत कर्मों का फल तो विधि के विधानुसार तुम्हें ही भोगना है। अब केवल और केवल सद्‌गुरु देव ही आपकी सहायता कर सकते हैं। ऐसा आशीर्वाद देते हुए बेटा, बेटा, कहते–कहते वो गोलनुमा काले संस्कारों की गठरी मुझे लौटा दी। और अन्तर्ध्यान हो गई। माता जी के आशीर्वादात्मक वचनों से मेरी श्रद्धा महा सिद्ध–शिरोमणि गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के श्री चरणों में स्थिर हो गई।

अड़सठ तीर्थ धाम आपके चरणों में।
हे गुरु देव प्रणाम आपके चरणों में।।

अर्द्धनारीश्वर सदाशिव के दर्शन–इस प्रकार परिस्थितियों से जूझते हुए मैं श्री

गुरूदेव भगवान की चरण शरण में सवाई धाम पहुँचा। अपने ध्यान–समाधि सम्बन्धी अनुभव गुरूदेव भगवान को सुनाए। आश्रम में प्रतिवर्ष प्रथानुसार श्रावणमास का रूद्रयज्ञ आयोजन चल रहा था। एक बजे से तीन बजे तक का समय छोड़ कर पूरे दिन यज्ञ कार्य चलता था। इस अवसर पर गुरुदेव जी ने साधकों को चेताया कि यहाँ श्री प्रभु जी की दिव्य धाराएँ तुम्हारे सिर को स्पर्श कर रही हैं। यज्ञ के श्लोक आश्रम को गुंजायमान कर रहे हैं। अतः तुम अपना अमूल्य समय झमेलों में नष्ट न करके अथवा किसी का निन्दक न बनके, बड़े विनीत भाव से रहना। जो दूसरों के कड़वे वचन सहकर, गर्मी–सर्दी, भूख–प्यास, सहकर साधना में लगा रहेगा, उसका प्रारब्ध बदल जाएगा। तप से ब्रह्म के दर्शन होते हैं, स्वाध्याय से इष्ट एवं ऋषि महात्माओं के दर्शन होते हैं। अतः संयम से एक समय फलाहार ग्रहण करके मन्त्र का अधिक से अधिक जाप करें, जिससे तुम्हारे अन्दर शक्ति का उत्थान हो। इस प्रकार शान्त एवं शुद्ध वातावरण में आनन्द कन्द श्री प्रभुजी की अवश्य कृपा होगी। अस्तु!

गुरू आज्ञानुसार मैं अपनी साधना में जुट गया। एक दिन ध्यान में मुझे सदा शिव अर्धनारीश्वर जी के दर्शन हुए। उन्होंने आज्ञा दी कि महाप्रभु के सद्गुरू स्वरूप का ध्यान करो। कठिन प्रारब्ध आ रहे हैं। पश्चात्, मैं घर लौट कर रात भर तपस्या में जुट गया। आप जानते ही होंगे कि जब ध्यान उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है तो इष्ट देव के स्वरूप क्रियाशील हो जाते हैं। वे हिलते हैं, वे बोलते हैं, वे आशीर्वाद देते हैं। साधक को गले लगाते हैं। अतः मुझे एक रात्रि को ध्यान में महाप्रभु जी के स्वरूप से तीव्र कठोर आवाज आई कि तुमने पाप किए हैं। राजमद में साधुओं, निर्अपराध सज्जनों पर अत्याचार किए हैं, जिसका दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा। यह सुन कर मैं बुरी तरह कांप उठा और श्री गुरूदेव जी महाराज के चरण पकड़ कर बार–बार क्षमा मांगने लगा। (गुरूदेव का ये तात्विक अर्थ है—परमात्मा–जो सभी धर्मों के अनुयायियों का मालिक है, शाश्वत है, पहले था, आज है, भविष्य में भी रहेगा। उसका कोई रूप नहीं है, कोई रंग नहीं है। गुरूदेव की शरीरी सेवा से परमात्मा प्रसन्न होते हैं।) क्षमा मांगते–मांगते मैं चरण पकड़ कर रोने लगा। आहा! ऐसा आनन्द, जिसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता। मेरा हृदय हिलौरे लेने लगा–मेरा जीवन सफल हो गया। और वात्सल्य निधि आशुतोष जी महाराज गुरूदेव भगवान ने मुझे गले लगा लिया। मेरे समस्त पाप क्षमा कर दिए। (जो साधक ध्यान में गुरू चरण पकड़ कर रो देता है उसके जन्म–जन्म के पाप क्षय हो जाते हैं।)

पश्चात्, मैं दिल्ली आश्रम चला गया। एक रात्रि को गहन ध्यान में क्या देखता हूँ कि अकारण दयालु अनाथ नाथ श्री प्रभु जी महाराज ने मुझे कैदियों वाले काले कपड़े पहना कर

एक कोठरी में बन्द कर दिया है। लगभग तीन घण्टे कैदी बनकर–कोठरी में बन्द रह कर पापों की सजा का भुगतान किया होगा। जब मेरा ध्यान प्रातः चार बजे खुला तो मैंने स्वयं को बिस्तर पर लेटे पाया। विचित्र लीला है श्री महाप्रभु जी की जो मेरे कलिष्ट पापों की गठरी का भुगतान मात्र तीन घण्टे में अर्थात् सूक्ष्म रूप में काट कर मुझे आश्वस्त कर दिया। शेष छोटे–छोटे संस्कारों को काटने में मुझे बारह साल लग गए।

पूर्व कृत किन शुभ कर्मों से मुझे तेरा प्यार मिला।
जहाँ सारी दुनियाँ झुकती है ऐसा मुझे दरबार मिला।।

प्रायश्चित एक उपाय–अपने पूर्व कृत पापों के प्रति प्रायश्चित करने से प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाते हैं। पश्चाताप की अग्नि पापों को जला कर हल्का कर देती है। श्री महाप्रभु जी की परिपाटी के उन्नत साधकों को गुरूदेव अन्तराय तथा संगजात दोषों के लिए आशीर्वाद दिया करते थे। अगर कोई साधक अपनी त्रुटि के लिए सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप से गुरूदेव से क्षमा मांग ले अथवा दण्ड को स्वीकार कर ले तो वह संस्कार प्रकृति के गर्भ में न जाकर साधना द्वारा समाप्त किया जा सकता है। अगर योगाभ्यासी ध्यान में गुरुदेव के श्री चरणों में बैठ कर प्रायश्चित के आँसू निकाल देता है तो उसके लाखों क्लिष्ट समूल क्षय हो जाते हैं। वह भविष्य की घटनाओं को टेलिविजन की तरह देख भी सकता है। मगर यह केवल गुरूदेव भगवान के वरद् हस्त द्वारा ही सम्भव है।

चेतावनी–अगर किसी योगी के आत्मोत्थान को देख कर कोई देवता साधक को निमन्त्रण दे तो उसका निमन्त्रण स्वीकार करना अथवा उसका संग करना पतन का कारण बनता है। जैसे गुरु भाई रमण गिरी का पतन हुआ। वैसे देवता लोग अधिक उत्थान वाले प्रथम व द्वितीय स्तर के साधकों को निमन्त्रण नहीं देते अपितु उनकी सहायता करते हैं। परिणामतः साधक को पर्वत के समान अटल विश्वास और श्रद्धा रखनी चाहिए। कोई साधक चमत्कार को सुनकर, आकर्षित होकर साधना करता है तो उसका पतन निश्चित है। साधक को गुरूदेव भगवान की आरती नित्य करनी चाहिए क्योंकि गुरूदेव की आरती गुरूदेव के प्रति भक्तिपूर्ण अभिनय है। आरती माता की तरह रक्षा करती है। साधक को अनुष्ठान, ध्यान, जप, अध्ययन, शयन, भोजन, योगासन एवं मौन आदि क्रमबद्ध तरीके से करने की आवश्यकता है। साधना में आशीर्वाद का विशेष महत्त्व है। माता–पिता, गुरूदेव एवं संत पुरुषों का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए। साधक गुरूदेव के थपेड़े खाकर अगर गुरूदेव में समर्पित रहेगा तो अवश्य योगी बन पाएगा। यमराज की भी ताकत नहीं कि उसका बाल बाँका कर सके। साधकों के उत्थान हेतु ही श्री प्रभु जी का अवतरण हुआ।

श्री प्रभु जी के अवतरण का लक्ष्य–महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने लुप्त हुई योग विद्या को पुनः स्थापित करने हेतु, भगवान सदा शिव की आज्ञा से काया निर्माण सिद्धि द्वारा सोलह शरीरों का निर्माण एक साथ किया। हिमालय के मनमहेश पर्वत पर सिद्धाश्रम पर रह रहे महर्षियों ने जब भगवान सदाशिव के समक्ष हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि ''हे प्रभो, संसार में लाखों प्राणी, जो यथार्थ में जिज्ञासु एवं सुपात्र हैं, सच्चे सद्गुरु के अभाव में, भगवत प्राप्ति की खोज में इधर–उधर भटक रहे हैं और भगवान श्री कृष्ण द्वारा प्रदान योग विद्या–लुप्त प्रायः हो चुकी है। अतः कृपा करके पूर्ण सद्गुरु तत्व से संपन्न किसी योगेश्वर को भू लोक पर उतार कर, सदाचारियों का उद्धार–धर्म न्याय अहिंसा की स्थापना आदि योग मार्ग दिखाने की कृपा करें।'' भगवान सदाशिव ने महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की ओर संकेत करते हुए बताया कि यह हमारा ही दूसरा रूप है। ये एक साथ लाखों व्यक्तियों को शक्ति पात द्वारा मोक्ष प्रदान कर सकते हैं। भगवान सदाशिव ने श्री प्रभु जी को आज्ञा दी कि भू मण्डल पर जा कर जिज्ञासु को योग विद्या प्रदान करो। मगर यह कार्य आप एक शरीर से नहीं कर सकते, इसलिए तुम्हें काया निर्माण सिद्धि के द्वारा एक साथ कई शरीर धारण करने पड़ेंगे। भगवान सदाशिव की आज्ञा पा कर महाप्रभु श्री राम लाल जी महाराज ने अपने मूल शरीर को वहीं कायम रखते हुए कायाव्यूह महासिद्धि से एक साथ सोलह शरीरों का निर्माण किया, जिन्होंने विभिन्न नामों से, विभिन्न स्थानों पर अवतरित हो कर जिज्ञासुओं को योग विद्या का ज्ञान प्रदान किया। महाप्रभु श्री राम लाल जी महाराज का शरीर उन्हीं सोलह शरीरों में से एक था।

गुरूदेव द्वारा आशीर्वाद–आध्यात्मिक जगत में गुरू–शिष्य का सम्बन्ध हृदय की गहरी भावनाओं से जुड़ा होता है। उत्कृष्ट शिष्य गुरुदेव भगवान का ही तेजांश होता है। बात सन् 1974 की है। मैं उन दिनों भोपाल में कार्यरत था। उस समय मेरा बच्चा, जिसकी आयु 6 वर्ष थी, अचानक बीमार हो गया। हमें नहीं पता था कि उसने 5–6 केले खा लिए हैं। उसे तीव्र उदर पीड़ा हो गई। उसकी स्वास नहीं निकल रही थी। हम किंकर्त्तव्य विमूढ़ की भांति क्या करें क्या नहीं अवाक रह गए। फिर गम्भीर स्थिति देख कर तुरन्त एक्सप्रेस टेलिग्राम गुरूदेव भगवान को कर दिया। टेलिग्राम पढ़ कर गुरूदेव जी अपने कक्ष को बन्द करवा कर एक–दो घण्टा समाधिस्थ हो गए। समाधि से उठकर बोले कि श्री प्रभुजी ने बच्चे को ठीक कर दिया है। और बच्चा ठीक हो गया। जिस समय गुरु जी समाधिस्थ थे, उस समय भोपाल में हमको अनुभव हो रहा था कि कृपा निधान जी बच्चे के सिर की तरफ विराजे उसके पेट को सहला रहे हैं।

इस प्रकार की अनेक कृपाएँ हैं। एक बार जब कल्प तरू गुरुदेव भगवान भोपाल के कार्यक्रम पर पधारे तो हमारे निवास स्थान पर ही ठहरे थे। एक रात्रि आठ बजे मैं जब श्री चरणों की सेवा का आनन्द लूट रहा था तब गुरुजी मुझ से बोले, कि लल्ला–तू ध्यान में बैठ जा। गुरु आज्ञा पा कर मैं वहीं ध्यान में बैठ गया। रात्रि को जब सर्व समर्थ्य–विश्व नियन्ता जी योग निद्रा से उठे तो उन्होंने मुझे यथावत ध्यान में बैठ पाया। बस, आ गई लहर शिवा के मन में। मुझे ध्यान से उठाते हुए आह्लादित मुद्रा–रसीले नयनों एवं दिव्य वाणी से बोले कि ''लल्ला तुम्हारे जन्म से ही हमारी दृष्टि तुम्हारे ऊपर पड़ी थी–तुम्हे जो मांगना है–मांगो?'' आप सब जानते ही हैं कि एक सिद्धेश्वर पुलकित होकर स्वत: वरदान देता है तो वह वरदान अवश्यमेव फलीभूत होता है। और वैसे भी योगी वचन पलटै नहीं, पलट जाए ब्रह्माण्ड। मैं सोचने लगा क्या यह मेरी परीक्षा है? क्या मांगू? दौलत मांगू.....शौहरत मांगू. .....या योगा मांगू.....?

मैं यह सब सोच ही रहा था कि मुझ पर घट–घट वासी अन्तर्यामी जी की ही कृपा वर्षा बरसी जो मेरे मन में एक अनुभूति उपजी कि गुरु जी से योग मांगना चाहिए और शीघ्र मुख से निकल पड़ा कि ''गुरुजी, मुझे तो श्री प्रभु जी के चरण कमल चाहिए, संसार की कोई वस्तु नहीं।'' मेरे मुख से निकला, यह मेरा सौभाग्य ही था। लखदातार आराध्यदेव जी ने ''तथास्तु'' कहा और सरसवाणी से शुभाशुभ आशीर्वाद देते हुए बोले, ''लल्ला तुम पूर्ण योगी बनोगे, संसार में रहते हुए भी जल में कमल की भांति रहोगे।''

युग चक्र–जग चक्र और जीवन चक्र को एक साथ चलाने वाले गुरुदेव भगवान के आशीर्वाद पश्चात् मेरी साधना में और भी दिन दूनी–रात चौगुनी प्रगति होती रही। मेरे जीवन में जो भी प्रकाश है, वह सब हृदय सम्राट गुरुदेव जी की कृपा है। मेरे जीवन के हर मोड़ पर, जब–जब जो–जो संकट आए, तब–तब संकट मोचन जी ने मुझे संकट से जूझने की शक्ति दी। माता–पिता की तरह मेरी अंगुली पकड़ कर मुझे संकटों से निकालते रहे। भक्त शिरोमणि बाबा तुलसी दास जी ने कितना सुन्दर कहा है कि–

राम नाम मनि दीप धरूं–जेहि देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौं–जो चाहत उजियार।।

।।ॐ तत्सद गुरुदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन पर ब्रह्मं अर्पणमस्तु।।

निःस्वार्थ सेवा

(श्री मेहर बाबा की 'अखण्ड ज्योति' से)

कर्मयोगी स्वार्थ–मुक्त इच्छा–जनित कार्यों की असतव्यस्तता तथा नितान्त चाह–शून्यता जनित दृश्यमान निष्क्रियता दोनों का निवारण करता है। किन्तु वह ऐसी निःस्वार्थ सेवा का जीवन व्यतीत करता है; जिसमें 'स्वार्थ–बुद्धि की जरा भी गन्ध नहीं होती।' ऐसी सेवा जीवन की सभी स्थितियों में दिव्यता की अभिव्यक्ति को सुसाध्य बना देती है।

सेवा का कार्य स्वार्थ–रहित होना ही पर्याप्त नहीं है। निःस्वार्थ होने के साथ ही उसका आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट होना परम आवश्यक है।'अज्ञानमूलक सेवा से अस्तव्यस्तता तथा जटिलता की उत्पत्ति होती है।' अनेक सज्जन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा जन सेवा करने में अविरत रूप से लगे हुए हैं। किन्तु उनके सेवाकार्य का परिणाम क्या होता है? एक समस्या को हल करने के साथ ही साथ वह दस नई समस्याएँ पैदा कर देता है। अदूरदर्शी सेवा कार्य एक गुत्थी को सुलझाने में अनेक ऐसी उलझनें खड़ी कर देता है जिस पर उसका कोई वश नहीं चलता। संसारी मनुष्य प्रतिकार के द्वारा बुराइयों का विरोध करते हैं किन्तु ऐसा करने में न जानते हुए वे कुछ दूसरी बुराइयों के जन्मदाता बन जाते हैं।

कल्पना करो कि चींटियों का एक दल किसी मनुष्य के ऊपर चढ़ गया है और उनमें से कोई एक चींटी उसे काट देती है। स्वभावानुसार वह मनुष्य उस चींटी को दण्ड देने के अभिप्राय से उसे जान से मारना चाहता है। जब वह अपने हाथ से उसे मारता है तो इस कार्य के परिणामस्वरूप वह कई ऐसी चींटियों को मार डालता है जो उसे काटने के लिए जरा भी जिम्मेदार नहीं है। इस भाँति एक चींटी के विरुद्ध न्याय करने में वह अनिवार्यतः अनेक निर्दोष चींटियों के प्रति अन्याय कर डालता है। पवित्र सेवा की कला का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो मनुष्य उदार भावना से प्रेरित हो कर सार्वजनिक जीवन के चक्कर में पड़ जाता है उसका चींटी मारने वाले मनुष्य के ही समान हाल होता है। वह निःस्वार्थ भले हो, किन्तु उसके कार्य समता की स्थापना करने के बदले अस्तव्यस्त विषमता की ही उत्पत्ति करते हैं क्योंकि जटिलताएँ पैदा किये बिना सच्ची एवं प्रभावपूर्ण सेवा करने की कला उसने सीखी ही नहीं। अतएव 'यदि हम चाहते हैं कि हमारी सेवा संसार के लिए एक दुष्परिणाम–शून्य, अमिश्रित वरदान हो तो उसका सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा निर्दिष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है।

जब सेवा निःस्वार्थ भाव से की जाती है तो वह सदैव 'कर्मयोगी' के लिए लाभदायक

होती है यद्यपि वह किसी पुरस्कार या फल की प्राप्ति के उद्देश्य से सेवा नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञानपूर्वक निःस्वार्थ सेवा करने वाले को भी आध्यात्मिक लाभ अवश्य प्राप्त होते हैं; किन्तु ऐसी सेवा से दूसरों को बहुत कुछ अनावश्यक पीड़ा पहुँचती है। जब निःस्वार्थ सेवा ज्ञानपूर्वक की जाती है तो न केवल करने वाले को आध्यात्मिक लाभ होता है, किन्तु जिस पर वह की जाती है उनका भी भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारी निःस्वार्थ सेवा सभी के लिए अमिश्रित हित हो तो उसका ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित होना निहायत जरूरी है।

जिसे सामान्य मनुष्य सेवा के नाम से पुकारते हैं उसे ही विशेष स्थितियों में, गुरु कुसेवा समझता है, क्योंकि उसे परिस्थिति का भ्रान्तिरहित ज्ञान होता है और उस परिस्थिति की आवश्यकताओं का उसे गम्भीरतर बोध होता है। उन लोगों को भोजन देना जिन्हें उसकी आवश्यकता हो एक सेवाकार्य है। इसे सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु एक विशिष्ट परिस्थिति में भोजन माँगने वाले को उसी के हित के लिए भोजन न देना ही उचित हो सकता है। भोजन के लिए भीख माँगने की प्रवृत्ति अवांछनीय 'संस्कारों' की सृष्टि करती है और ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुष्य को भोजन देना उसके ऐसे संस्कारों के भार को बढ़ाना है। अतएव उसे भोजन देकर यद्यपि तुम उसकी सेवा करते हुए दिखाई देते हो तथापि तुम वस्तुतः उसके बन्धनों की वृद्धि करने में ही सहायक होते हो। और यद्यपि उसे भोजन देने में तुम्हारा उसे अपने अनुग्रह के भार से आक्रांत करने का हेतु नहीं रहता। किन्तु तुम जब ज्ञानपूर्वक परोपकार न करके केवल आदत के कारण परोपकार करते हो, तुम उपकार के बदले अपकार करने में ही सफल होते हो।

उपर्युक्त उदाहरण पर जो बात लागू होती है वही बात अन्य सुस्पष्ट तथा अस्पष्ट कार्यों पर भी लागू होती है, और 'कर्ता के संकुचित दृष्टिकोण से जो कार्य शुद्ध-सेवा कार्य सा प्रतीत होता है वही कार्य उच्चतर दृष्टि से पात्र के लिए निश्चित रूप से कुसेवा ठहरता है। जिस प्रकार स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक पदार्थ रोगी के लिए विष हो सकता है उसी प्रकार सामान्य लोगों की दृष्टि में अच्छी दिखने वाली वस्तु किसी खास मनुष्य के लिये बुरी हो सकती है। अतः विवेक सम्मत परोपकार के लिए परिस्थिति की आध्यात्मिक आवश्यकता का गम्भीर ज्ञान आवश्यक है।

ऊपर जो कहा गया है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि लोगों को सेवा करते समय अधिक सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। उन्हें निःस्वार्थ सेवा-भाव में निरुत्साहित होने की जरूरत नहीं है। यह सच है कि केवल गुरु ही को किसी परिस्थिति की आध्यात्मिक

माँग की भ्रांति रहित जानकारी रहती है। किन्तु यदि वे मनुष्य जिन्हें अपने निर्णय के निर्दोष होने का पक्का निश्चय नहीं है, अनजान में कुसेवा कर जाने के डर से स्वेच्छा–प्रेरित सेवा कार्य करना ही बन्द कर दें, तो यह दु:ख की बात होगी। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि विवेकरहित सेवा करने से भी सदा आध्यात्मिक लाभ होता है।

परिस्थिति की आध्यात्मिक माँग को समझने में भूल करने की सम्भावना कोई बड़े भूल की बात नहीं है। सच पूछा जाय तो गलत उद्देश्य या भ्रान्त हेतु से की जाने वाली सेवा में ही आध्यात्मिक दृष्टि से असली खतरा रहता है। 'जब तुम किसी मनुष्य को अनुग्रहीत करने की गरज से उसकी सेवा करते हो और ऐसा करने से तुम्हें गर्व का अनुभव होता है तो तुम सेवा ग्रहण करने वाले का ही आध्यात्मिक नुकसान नहीं करते हो अपितु अपने को भी हानि पहुँचाते हो। सेवा करते समय यदि तुम खुशी मानते हो और तुम्हें यह अभिमान होता है कि तुम एक सत्कार्य कर रहे हो तो तुम अपने कर्म से आसक्त तथा बद्ध होते हो। बन्धन चाहे लोहे का हो या सोने का, आखिर वह बन्धन ही है। इसी प्रकार मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि में बद्ध ही रहता है फिर चाहे वह दुष्कर्मों पर आसक्त होकर बद्ध होवे अथवा सत्कर्मों पर आसक्त होकर बद्ध होवे। अत: 'कर्म–बन्धन' से मुक्त रहने का उपाय यह है कि मनुष्य बिलकुल आसक्ति रहित होकर सेवा करे। ''मैं किसी को अनुग्रहित कर रहा हूँ'' यह विचार सेवा करते समय सर्वप्रथम मन में उत्पन्न होता है। ''जिसने मुझे सेवा करने का अवसर देकर मुझपर उपकार किया उसका मैं आभारी हूँ'' ऐसे विपरीत विचार के द्वारा उक्त गर्वित विचार को नष्ट कर देना चाहिये। इस विनीत विचार से अनासक्ति सुलभ होगी तथा सत्कर्मों के बन्धन से मुक्ति प्राप्त होगी। अत: व्यापक विवेक से सम्मत सेवा का केवल नि:स्वार्थ होना पर्याप्त नहीं है और न पात्र की आवश्यकता की पूर्ति करने में उसकी इयत्ता है किन्तु उसका बिलकुल आसक्ति शून्य होना भी अत्यन्त आवश्यक है। निस्वार्थ, ज्ञान मूलक एवं आसक्ति रहित, सेवा के द्वारा ही जिज्ञासु अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से अग्रसर हो सकता है।

सेवा के द्वारा जिस प्रकार का कल्याण किया जाता है उसके गुण पर ही सेवा का मूल्य अवलंबित रहता है। दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सेवा है। दूसरों की बुद्धि को विकसित करना सेवा है; लोगों को हृदयों से भोजन देना सेवा है, तथा सौन्दर्य सम्बन्धी (aesthetic) आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी सेवा है। इस भाँति भिन्न–भिन्न ढंग से नि:स्वार्थतापूर्वक सेवा की जा सकती है। किन्तु इन सभी प्रकार की सेवाओं का एक समान मूल्य नहीं है। मनुष्य की जैसी बुद्धि रहेगी वैसी ही कल्याण–विषयक उसकी भावना रहेगी और लोगों की सेवा करके वह वैसा ही कल्याण करना चाहेगा। अत: परम उत्कृष्ट तथा परम

मूल्य सेवा करने में केवल वही मनुष्य सफल होता है जिसे इस बात का स्पष्टतम ज्ञान है कि लोगों का किस बात में परम कल्याण है। ऐसी सर्वोपरि प्रकार की सेवा करने में वे लोग अयोग्य ठहरते हैं जिन्हें अन्तिम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। ईश्वर–ज्ञान–शून्य मनुष्य की सेवा का वही मूल्य नहीं हो सकता जो मूल्य ईश्वर–ज्ञान सम्पन्न मनुष्य की सेवा का है। एक अर्थ में, सच्ची सेवा ईश्वर–ज्ञान के बाद ही शुरू होती है।

जिज्ञासुओं एवं महानुभावों में सतत् विद्यमान रहने वाली सेवा–वृत्ति यदि गुरु के कार्य से संयुक्त कर दी जाय तो वह सुव्यवस्थित रूप से विधायक आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि में लगाई जा सकती है। गुरु अपनी अनन्त ज्ञान की प्रेरणा से समस्त संसार की सेवा करते तथा उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वे उसके सार्वलौकिक कार्य में अपने हाथ बँटाते हैं। उनकी सेवा को गुरु के ज्ञान तथा दूरदर्शिता की सुविधा रहती है। स्वेच्छापूर्वक गुरु के कार्य में भाग लेने से न केवल सेवा का मूल्य बढ़ता है किन्तु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वोत्तम अवसर भी हाथ लगता है। महत्व में, 'गुरु के आदेश के अनुसार की जाने वाली सेवा स्वयं गुरु के द्वारा की जाने वाली सेवा से ही दूसरे नम्बर की है।

बहुतेरे मनुष्यों की सेवा–सम्बन्धी भावना संसार के कर्म–क्षेत्र में किसी निश्चित इष्ट फल की प्राप्ति की भावना से अविभाज्य रूप से गुथी हुई रहती है। उनकी दृष्टि में सेवा का अर्थ या तो अशिक्षा को दूर करना होता है या मानवीय यातनाओं का निवारण करना होता है या तो व्यक्ति अथवा समाज की समृद्धि पर कुठाराघात करने वाली कठिनाइयों या अड़चनों को हटाना होता है। जिज्ञासुओं, राजनीतिज्ञों, समाज–सुधारकों तथा अन्य सज्जनों के द्वारा इसी प्रकार की सेवा की जाती है। यद्यपि ऐसी सेवा का भी कुछ कम आध्यात्मिक महत्व नहीं है तथापि इस प्रकार की सेवा का कहीं भी जाकर अन्त नहीं होता। इन दिशाओं में किसी व्यक्ति के लिए कुछ उद्देश्य हो सकते हैं। किन्तु उसके अनेक उद्देश्य हर हालत में अपूर्ण ही रहेंगे। अतः जब तक सेवा की भावना फलप्राप्ति की भावना से जकड़ी हुई रहेगी तब तक मनुष्य अनिवार्य रूप से एक प्रकार के अभाव के भाव से सदैव ही भाराक्रान्त रहेगा। 'फलों या परिणामों की कभी समाप्त न होने वाली अवली के पीछे पड़ने से अनन्तता की प्राप्ति असम्भव है। किसी नियत या निश्चित फल की प्राप्ति जिनका लक्ष्य हुआ करता है उनके मन पर एक स्थायी भार लदा रहता है।

इसके विपरीत सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् की जाने वाली सेवा आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान की सहज अभिव्यक्ति होती है! और यद्यपि ऐसी सेवा से भी संसार के कर्म–क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण फलों की प्राप्ति होती है तथापि फल लालसा के भार से वह जटिल

एवं बोझीली नहीं हुआ करती। जिस प्रकार सूर्य इसलिए चमकता है कि चमकना उसका स्वभाव है, इसलिए नहीं कि चमक कर वह कोई फल प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार ईश्वर–ज्ञानी मनुष्य सेवा तथा आत्म–बलिदान का जीवन इसलिए यापन करता है कि ऐसा करना उसके दिव्यजीवन का सारभूत स्वभाव है, न कि इसलिए कि उसे किसी फल की प्राप्ति की लालसा है। उसका जीवन किसी उपलब्धि की आशा में किसी पदार्थ की ओर बहिर्गमन या किसी वस्तु के अनुसरण के समान नहीं होता। 'फल–प्राप्ति के द्वारा सम्पन्न व समृद्ध होने की उसकी आकांक्षा नहीं रहती। वह तो अनन्त की प्राप्ति की परिपूर्णता में पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुका होता है। उसकी सत्ता का अजस्त्र प्रवाह अन्य रूपधारी प्राणियों के लिये एक उपकार है। और इस प्रवाह से सिंचित होने वाले मनुष्यों का अवश्यमेव भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण होता है। चूँकि उसका आनन्द उसकी अन्तर्भूत दिव्यता के ज्ञान की नींव पर अधिष्ठित होता है अत: वह अन्य रूपधारी प्राणियों की पीड़ा एवं अपूर्णता से ह्रास को प्राप्त नहीं होता और उसका ज्ञान किसी अप्राप्त वस्तु की अपूर्णता या अभाव के लेशमात्र क्लेश से पीड़ित नहीं होता ईश्वर ज्ञान के उपरान्त की जाने वाली सेवा में आकाश पाताल का अन्तर है। गुरु का जीवन सेवामय जीवन है, उसका जीवन उसके खुद की आत्मा के अन्य रूपों के लिए शाश्वत आत्मबलिदान है। इस प्रकार की विशिष्ट सेवा जो केवल ईश्वरज्ञानी पुरुष ही करने में समर्थ होते हैं उस सेवा से एकदम भिन्न है जो सेवा उन मनुष्यों के द्वारा की जाती है जिन्हें सत्य साक्षात्कार नहीं हुआ रहता।

पाँच तत्त्व और गुण क्रमश:

1. भूमि,	2. जल,	3. आकाश,	4. अग्नि,	5. वायु।
↓	↓	↓	↓	↓
1. गन्ध,	2. रस,	3. शब्द,	4. रूप,	5. स्पर्श।

कर्म–शृंखला में–

भोगवाद और आत्मवाद

—स्व. श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है आत्म–साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति पर आज के जगत का लक्ष्य है भोग प्राप्ति। इसी से भारतीय सिद्धान्त है आत्मवाद या ईश्वरवाद और आज के जगत का सिद्धान्त है भोगवाद। भगवान् ने गीता में सर्वथा पतन या सर्वनाश का कारण बतलाया है भोग–चिंतन या विषय–चिंतन। भगवान् कहते हैं–

ध्यायतो विषयान्पुंस:,
सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते काम:,
कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोह:,
संमोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

(गीता 2/62–63)

''भोगों के या विषयों के चिन्तन से उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से (उनको प्राप्त करने की) कामना पैदा होती है। कामना (सफल होने पर लोभ और उस) की विफलता में, काम पर चोट लगने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध (या लोभ) से सम्मोह होता है, पूरी मूढ़ता छा जाती है। मूढ़ता से स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृति–भ्रमित होने पर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धि के नाश से सर्वनाश होता है।''

ये सर्वनाश के आठ स्तर हैं। इनमें सबसे पहला है विषयों का, भोगों का चिंतन। इसी से अन्त में बुद्धि–नाश होकर सर्वनाश होता है। भोग जिसके जीवन का लक्ष्य होगा, भोगवाद ही जिसका सिद्धान्त होगा वह व्यक्ति हो, चाहे व्यक्तियों का समुदाय–समाज हो, समाजों से भरा देश हो, देशों का समूह राष्ट्र हो या राष्ट्रों का समुदाय विश्व हो, जहाँ भोगवाद है, वहाँ भोग–चिन्तन है और जहाँ भोग–चिन्तन है वहीं परिणाम में सर्वनाश है। भगवान् ने भोगजनित सुख को पहले मधुर लगने वाला परन्तु परिणाम में विष के सदृश बतलाया है।

वे कहते हैं--

विषयेन्द्रियसंयोगा–
वत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव,
तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।

(गीता 18/38)

"विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर जो पहले अमृत के समान (मधुर) लगता है, परन्तु जो परिणाम में विष के तुल्य (कार्य करता) है, वह सुख राजस कहलाता है।"

एक जगह भोग–सुख को भगवान् ने दुखों की उत्पत्ति का स्थान, दुःखरूपी फल का खेत बतलाया है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा,
दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न,
तेषु रमते बुधः।।

(गीता 5/22)

"इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न जो सब भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख की उत्पत्ति स्थान हैं तथा आदि–अन्त वाले अनित्य हैं। भैया अर्जुन! बुद्धिमान पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।"

अवश्य ही भारतीय संस्कृति में भोग का बहिष्कार नहीं है। अर्थ और काम का तिरस्कार नहीं है, परन्तु वे जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। भोग रहें, पर रहें धर्म के नियन्त्रण में और उनका लक्ष्य हो मोक्ष या भगवत्प्राप्ति। पुरुषार्थ चतुष्टय में इसीलिए अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों को स्थान है। धर्मनियन्त्रित अर्थ–काम भगवत्सेवा में नियुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति के साधन बनते हैं और वे ही 'अर्थ–काम' जीवन के लक्ष्य बनकर मनुष्य को घोर अशान्ति तथा चिन्तामय जीवन बिताने को बाध्य करके अन्त में नरकों की यन्त्रणा में पहुंचा देते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है–'अर्थ' और 'काम' में फँसे लोग कुत्ते और बंदरों के समान हो जाते हैं। (1/18/45) धन–लक्ष्मी रहे, वह परम मंगलमयी है, पर वह तभी मंगलमयी है, जब सर्वव्यापी–प्राणीमात्र के रूप में अभिव्यक्त भगवान विष्णु की सेविका होकर रहती है। नहीं तो उसे अपनी भोग्या बनाकर तो मनुष्य महापाप करता है, जिससे उसका निश्चित पतन होता है।

हमारे इस धर्म के किसी वाद का लक्ष्य नहीं है या केवल आध्यात्म विचार ही धर्म नहीं

है। धर्म उस निष्ठा, विचार और क्रिया–पद्धति का नाम है, जो सबको धारण करता है। जिससे मनुष्य का सात्विक उत्थान हो, जो प्राणीमात्र का हित तथा सुख का साधन हो तथा अन्त में निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला हो, वही धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः।

(वैशेषिक 1/2)

श्री वाल्मीकीय रामायण में भगवान श्री राम जी लक्ष्मण जी से कहते हैं–

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके,
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे,
भार्येव वश्याभिमता।।
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा,
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके,
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता।।

(अयोध्याकाण्ड 21/57–58)

''धर्म के फलस्वरूप सुख–सौभाग्यादि की प्राप्ति में जो धर्म, अर्थ और काम देखे जाते हैं, वे तीनों एक धर्म में वर्तमान हैं। धर्म के अनुष्ठान से ही तीनों की सिद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं है। वैसे ही जैसे पति के अधीन रहने वाली भार्या अतिथि–पूजनादि धर्म में, मनोऽनुकूल होने से काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायिका होती है। जिस कर्म में धर्म, अर्थ, काम–तीनों संनिविष्ट न हों, परन्तु जिससे धर्म की सिद्धि होती हो, वही कर्म करना चाहिए। जो केवल अर्थपरायण होता है वह लोक में सबके द्वेष का पात्र बन जाता है और धर्म–विरुद्ध कामभोग में आसक्त होना भी प्रशंसा की नहीं, निन्दा की बात है।''

भोगवादी इस धर्म की परवाह नहीं करता। उसका निश्चित सिद्धान्त ही होता है कामोपभोग–

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चितताः *(गीता 16/11)*

''विषयभोग में लगे मनुष्य बस यही सब कुछ है, ऐसा निश्चित रूप से मानते हैं।''

यह आसुरी सम्पदा है और आसुरी सम्पत्ति ही भोगवाद है।

भोगवादी या असुर–मानव कर्म को नहीं मानता, वह भगवान का भजन तो करता ही नहीं। भगवान ने उसके लिए कहा है–

न मां दुष्कृतिनो मूढाः,
प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहृतज्ञाना,

आसुरं भावमाश्रिताः।।

(गीता 7/15)

"आसुरी भाव का समाश्रयण किये हुए माया के द्वारा अपहृत ज्ञान वाले दूषित कर्म करने वाले नराधम मूढ़ मुझको (भगवान को) भजते ही नहीं।" भगवान को नहीं, भजते, भोगों में लगे रहते हैं, इसी से वे नराधम तथा मूढ़ हैं।

ऐसे भोगवादी असुर–मानव को जीवन में मिलते हैं–चिन्ता, अशान्ति, कामजनित पाप तथा मृत्यु के बाद नरकों की प्राप्ति तथा बन्धन। यथा–

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तासुपाश्रिताः

(गीता 16/11)

"मृत्यु के अन्तिम क्षण तक अपरिमित चिन्ताओं से घिरे रहते हैं।"

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः

(गीता 16/16)

"मोहजाल से समावृत अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त (अशान्त) रहते हैं।"

काम एष क्रोध, एष

रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा,

वद्धयेनमिह वैरिणम्।।

(गीता 3/27)

श्रीभगवान ने कहा–"रजोगुण (विषयासक्ति) से उत्पन्न यह काम ही (चोट खाकर) क्रोध बन जाता है। यह काम कभी तृप्त न होने वाला महापापी है। (मनुष्य के द्वारा होने वाले पापों में) यह काम ही बैरी का काम करता है, इसी से पाप होते हैं, ऐसा समझो।"

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ

(गीता 16/16)

"विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त लोग अपवित्र नरकों में पड़ते हैं।"

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

(गीता 16/5)

"दैवी सम्पदा से मोक्ष मिलता है और आसुरी से बन्धन। यही मत है।"

भोगवादी असुर–मानव का 'काम–क्रोध–परायण' होना अनिवार्य है।

भोगवाद का विष हमारी भारतीय संस्कृति में नहीं था। यह पाश्चात्य जगत से यहाँ आया

है और अब तो समस्त विश्व में इतने भयानक रूप में इसका प्रसार हो रहा है कि दिन–रात सर्वत्र सभी क्षेत्रों में भोग चिन्तन ही मनुष्य का स्वभाव–सा बन गया है और यह निश्चित है कि भोग–चिन्तन का परिणाम बुद्धिनाश के द्वारा सर्वनाश होता है। भोगवाद का यह विषमय परिणाम है कि आज भारत में भी पाश्चात्य जगत की भाँति प्रायः सभी वाद, चाहे वह कांग्रेस हो, कम्यूनिज्म हो, कम्यूनलिज्म हो, कैपिटेलिज्म हो, सोशलिज्म हो या कोई भी साम्प्रदायिक कहा जाने वाला वाद हो, सभी भोग दृष्टि से ही अपने कर्त्तव्य का विचार करते हैं। इसी से सर्वत्र दलबन्दी, कलह, द्वन्द्व, एक–दूसरे को गिराने की चेष्टा, एक ही धर्म–मत में परस्पर निन्दा तथा पतन की चेष्टा आदि हो रही है। यह धर्मरहित राजनीति का अवश्यम्भावी परिणाम है। हमारे यहाँ मनु महाराज ने राजा को शिकार, द्यूत, दिवानिद्रा, परदोष कथन, स्त्री–सहवास, मद्यपान, नृत्य गीत, वाद्य और व्यर्थ भ्रमण–इन कामजनित दस दोषों से तथा चुगली, अनुचित साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के दोष के गुणों में दोषारोपण, द्रव्यहरण, गाली और कठोरता–इन क्रोधजनित आठ दोषों से बचने के लिए कहा है। पर आज यही सब दोष जीवन के आवश्यक अंग या स्वभाव से बन गये हैं। अभी चुनाव के तामस यज्ञ में इनका विविध प्रकार से अकाण्ड ताण्डव प्रत्यक्ष देखा गया। हमारे प्रतिदिन के राजनीतिक जीवन में भी ये दोष अंगस्वरूप ही बन गये हैं। ऐसा होना भोगवादी असुर–मानव के लिए अनिवार्य है, क्योंकि वह तो इन्हीं को गुण मानता है।

यह चीज केवल धर्महीन राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं है, भोगवादी के द्वारा केवल भोग प्राप्ति के लिए स्वीकृत कोई भी जीवननिर्वाह की या लौकिक उत्थान–अभ्युदय अथवा प्रगति की पद्धति भोग–चिन्तन तथा अन्त में बुद्धिनाश के द्वारा सर्वनाश कराने वाली होती है। इसी कारण आज हमारे सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक, नैतिक सभी क्षेत्रों में बड़ी तेजी के साथ दैवी सम्पत्ति का ह्रास तथा आसुरी का विकास हो रहा है। जो अन्त में महान् विनाश या घोर पतन का कारण होगा।

भोगवादी असुर–मानव क्या सोचता, करता है तथा उसका परिणाम क्या होता है? इस पर भगवान कहते हैं–

इदमद्य मया लब्धमिमं,
प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे,
भविष्यति पुनर्धनम्।।
असौ मया हतः,
शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

ईश्वरोऽहमहं भोगी,
सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।
आढ्योऽभिजनवानस्मि,
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य,
इत्यज्ञानविमोहिताः।।
अहंकारं बलं दर्पं,
कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु,
प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतः क्रूरा–
न्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभाना–
सुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिमॉपन्ना,
मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय,
ततो यात्यधमां गतिम्।।

(गीता 16/13 से 15, 18 से 20)

''मैंने आज यह कमाया है, मेरे इस मनोरथ को भी मैं अवश्य प्राप्त करूँगा। मेरे पास यह इतना धन तो है, फिर और मिलेगा। (मेरे काम में बाधा देने वाला) यह शत्रु तो मेरे द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जो दूसरे और हैं उनको भी मैं मार डालूँगा। मैं शासक ईश्वर हूँ, मैं ऐश्वर्य का भागी हूँ, मैं सफल जीवन हूँ, मैं बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान हूँ, मैं अभिजनवान्–जनता का नेता हूँ, मेरे समान दूसरा है कौन? मैं (बड़े–बड़े) यज्ञसेवा के कार्य करूँगा, मैं बड़े–बड़े दान दूँगा और मेरे मोद का पार नहीं रहेगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित वे असुर–मानव मनोरथ किया करते तथा डींगें हाँका करते हैं।'

इस प्रकार जो अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के आश्रित गुणियों में भी दोषारोपण करने वाले तथा दूसरों के शरीरों में स्थित मुझसे (भगवान से) बड़ा द्वेष करते हैं। उन द्वेष करने वाले, अशुभकर्त्ता, निर्दयी, नराधमों को मैं (भगवान) संसार में बार–बार आसुरी योनियों में ही पटकता हूँ। भैया अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष मुझको (भगवान को) न पाकर

जन्म–जन्म में (बार–बार) आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर और भी अधम गति (नरकादि) में जाते हैं।

आज के युग के भोगवादी मानव का यह प्रत्यक्ष चित्र है। सारा विश्व ही आज इन आसुरी भावों का समाश्रयण किये हुए अपने विनाश का पथ–प्रशस्त कर रहा है। सभी भोग–चिन्तनपरायण हैं। कोई मान–यश की कामना करता है तो कोई अधिकार–सत्ता की तो कोई धन–वैभव की। इसी से सभी ओर छीना–झपटी हो रही है।

भारतीय संस्कृति का कर्तव्य पालन तथा त्याग का उज्जवल आदर्श था, उसकी जगह आज 'अधिकार' तथा 'भोग' ने ले ली है। सभी लोग अधिकार और अर्थ या भोग के पीछे उन्मत्त हैं। कर्तव्य तथा त्याग होने पर उचित अधिकार तथा अर्थ–भोग अपने–आप आते हैं। राम और भरत का इतिहास इसका साक्षी है। कर्तव्य तथा त्याग के कारण दोनों के अधिकार कायम रहे और दोनों ही उचित अर्थ के भागी हुए।

हमारा आदर्श ही था कर्तव्यमय त्याग। अमृतत्व की प्राप्ति त्याग से ही होती है। उपनिषद् की वाणी है–

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

कर्म से नहीं, प्रजा से नहीं, धन से नहीं, एक त्याग से ही कोई अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। इसी से वेद का उपदेश है–

ईशा वास्यमिदं सर्व,
यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा, गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

(शुक्लयजुर्वेद 40/1 ईशा. 30)

अखिल विश्व में जो कुछ भी जड़–चेतन जगत है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत बनो। किसी के धन की इच्छा न करो।

आज यह बात उपहास की–सी वस्तु बन गई है। आज तो प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन होता है–आर्थिक या भोगदृष्टि से ही आत्मा का प्रकाश करने वाली शिक्षा भी आज भोग दृष्टि से ही होती है। प्रत्येक वस्तु पर इसी दृष्टि से विचार किया जाता है कि इसमें आर्थिक लाभ है या नहीं? पंचवर्षीय योजनाएँ, शिक्षा–कला–विस्तार, नये–नये कारखाने, दवा–उद्योग, कसाईखाने, हिंसा–उद्योग सब इसी दृष्टि से खोले तथा चलाये जाते हैं। धर्म की कहीं कोई आवश्यकता ही नहीं, यह सब भोगवाद के विष का ही विषैला प्रभाव है।

भोगवाद के विष से आक्रान्त होने के कारण आज भारत के बड़े-बड़े अध्यात्मवादी विद्वान भी, पाश्चात्य भोगवादी विद्वान बुरा न बता दें। इसके लिए अपनी संस्कृति के परम्परागत सामान्य सिद्धान्तों को तथा इतिहासों को भी यथार्थ रूप में प्रकाश करने में हिचकते हैं और उन्हें विकृत करके उनके मतानुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह मस्तिष्क का दासत्व बड़ा ही शोचनीय तथा घातक है। इसी से हमारे प्राचीन इतिहास तथा ऐतिहासिक घटनाओं के काल बदलने की और सबको तीन हजार वर्ष के अन्दर लाने की चेष्टा की जा रही है और दुःख का विषय है कि हमारे विद्वान इन बातों को स्वीकार करते चले जा रहे हैं। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को यदि गिराना हो तो उसका प्रधान साधन है उसके आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वास को मिटा देना, उसके अपने में हीनता का बोध करा देना। यह काम पाश्चात्य विद्वानों ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और इसी से भारत अपने में हीनता का बोध करके सहज ही मस्तिष्क का दासत्व स्वीकार कर परमुखापेक्षी तथा परानुकरण-परायण हो गया। विदेशी भाषा, विदेशी वेशभूषा, विदेशी खान-पान, विदेशी रहन-सहन तथा विदेशी ज्ञान का गौरव के साथ ग्रहण करना। हमारी इस आत्महीनता के बोध का ही सहज परिणाम है। पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रम से या किसी कुटिल अभिसंधि से इन तीन महाभ्रमों का प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया–

(1) आर्यजाति बाहर से आई है, भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(2) चार हजार वर्ष पहले का इतिहास नहीं है।

(3) जगत् में उत्तरोत्तर विकास-उन्नति हो रही है।

मस्तिष्क की गुलामी के कारण भारतीय विद्वानों ने अधिकांश में इन तीनों को स्वीकार कर लिया। इसी का फल है कि आज हम भारतीयों की अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज तथा अपने गौरवमय महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थ वेद-स्मृति तथा पुराण आदि पर अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है और इसी से भोगवाद के विष-विस्तार में बड़ी सुविधा हो गई है। इसी से आज हम तमसाच्छन्न होकर सभी कुछ विपरीत देखने, विपरीत सोचने और विपरीत करने में गौरव मान रहे हैं। भगवान ने गीता में कहा है–

अधर्मं धर्ममिति या,
मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्चय बुद्धिः,
सा पार्थ तामसी।।

(गीता 17/32)

"अर्जुन! तमोगुण से आवृत्त जो बुद्धि अधर्म को धर्म (अवनति को उन्नति, विनाश को विकास, पतन को उत्थान, पाप को पुण्य इस प्रकार–) सभी अर्थों में विपरीत मानती है, वही तामसी बुद्धि है।"

आज का संसार भोगवाद के विष से जर्जरित होने के कारण तमसाच्छन्न होकर इसी तामसी बुद्धि के द्वारा अपने कर्तव्य का निश्चय करता और तदनुसार चल रहा है। भारतवर्ष भी आत्म–विस्मृत होकर इसी तामसी बुद्धि का आश्रय ले रहा है।

भारत ने यदि अपने पूर्वज ऋषि–महर्षि तथा अपनी प्राचीन संस्कृति एवं धर्म–ग्रन्थों पर विश्वास करके अपनी अत्यन्त प्राचीन सर्वांग–सम्पन्न सर्वांगसुन्दर आत्मवादी आदर्श संस्कृति को न अपनाया तो इसका परिणाम उसके लिए तथा समस्त जगत् के लिए भी बुरा होगा, क्योंकि यही देश तथा यहीं की संस्कृति अनादि काल से अध्यात्म–प्रधान आत्मवादी रही है। यह आज भी वर्तमान जगत् की स्थिति से असन्तुष्ट यूरोप तथा अमेरिका के बहुत से सज्जन सच्चे शान्ति–सुख की प्राप्ति के लिए आत्मवादी भारतवर्ष की ओर ताक रहे हैं और बहुत से तो यहाँ आ–आकर अध्यात्म की शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। पर जब भारत ही भोगवादी हो जायेगा, तब तो जगत की सारी आशा ही लुप्त हो जायेगी। भारत आज इसी भोगवाद के मोहजाल में फँसा है। भारत के मनीषियों को गम्भीरतापूर्वक इस पर विचार करके किसी प्रकाशमय पथ का पता लगाकर उस पर आरूढ़ होना चाहिए।

ईश्वर और धर्म

धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। क्या तुम इसके लिए तैयार हो? क्या तुम यह चाहते हो? यदि हाँ, तो तुम उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हो, और तभी तुम यथार्थ धार्मिक होगे। जब तक तुम इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर लेते, तुममें और नास्तिकों में कोई अन्तर नहीं। नास्तिक ईमानदार हैं, पर वह मनुष्य जो कहता है कि वह धर्म में विश्वास रखता है, पर कभी उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न नहीं करता, ईमानदार नहीं है।

गुरु-मंत्र का सहारा ले

-श्री विष्णुप्रसाद व्यास

मनुष्य को अपना मन ही समानयों और चतुराइयों की जाली बनाकर उसमें फँसा देता है। जो भाग्यशाली चतुराइयों को छोड़ कर गुरु-मन्त्र का सहारा लेते हैं। केवल वे ही दुःखों और बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

जिसको आत्मा की मुक्ति का विचार हो उसके मन के चातुर्य के चक्र में न फँसकर अपनी सुरति को नाम में लीन करने का अभ्यास करना चाहिए। जब मन की दौड़-धूप सर्वथा मिट जायेगी और जव सहज स्वभाव नामजप में लग जायेगा, तब मनुष्य की चिन्ताओं का बोझ उतर जायेगा और उसकी सारी जिम्मेदारियाँ ईश्वर अपने ऊपर ले लेंगे।

नामाभ्यासी पर यदि कोई संकट आ भी जाये तो वह घबराता नहीं, मनुष्य का सहारा भी नहीं लेता। वह तो हर एक दुःख का उपचार प्रभु के नाम को ही समझता है।

भक्त ध्रुव की माता का नाम सुनीति था और वह बड़ी भक्ति-भावना वाली थीं। जब राजा उत्तानपाद ने ध्रुव को अपनी गोद में बैठने नहीं दिया और राजा की दूसरी रानी सुरुचि ने उसे बुरा-भला कहा और ध्रुव कठोर वचन सुनकर पीड़ित हुआ और रोते-रोते अपनी माता के पास गया तो उसकी माता ने यही ढंग अपनाया।

सांसारिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो जैसा अधिकार राजगद्दी पर सुरुचि का था, वैसा ही सुनीति का भी था, किन्तु उसने कोई प्रतिरोध न किया और न ही किसी के पास शिकायत ले गई। बड़ी शान्तिपूर्वक अपने सुत ध्रुव को प्रभु के समर्पित कर दिया और उसे समझाया कि वत्स! और सब आश्रय कच्चे और मिथ्या हैं, प्रभु का आश्रय पक्का और सच्चा है। ध्रुव भी सब ओर से अपने मन को हटाकर जगत की आशा और तर्कणा को छोड़कर नामाभ्यास में लग गया। अपने सर्वस्व को भगवान के अर्पित कर देने पर उस परमात्मा ने उसकी सारी व्यवस्था कर दी। भगवान ने नारदजी को राजा उत्तानपाद के पास भेजा और कहा कि उसे कहो कि तुमने बड़ा अन्याय किया है जिसका फल तुम्हें भी भोगना पड़ेगा। इस लोक में तुम्हारी निन्दा होगी और परलोक भी बिगड़ जायेगा। राजा ने भी अनुभव किया और स्वयं ध्रुव के समीप गया और उसे राज्य स्वीकार करने की बात कही, किन्तु जिसने राम-भक्ति के रस का आनन्द ले लिया था, वह कब इन झूठे रसों से सन्तुष्ट होने वाला था-उसने स्पष्ट

निषेध कर दिया। अन्ततोगत्वा उस ध्रुव ने ऐसी पदवी प्राप्त की जो उसकी सौतेली माता सुरुचि और उसके पिता उत्तानपाद को भी उपलब्ध न हुई। यह सब देन इस कारण हुई कि सुनीति ने ऊपर लिखे वचन को क्रियान्वित किया था, न उसने राजा को उपालम्भ दिया न ही अपनी सौतिल माता सुरुचि से कलह किया और न्यायालय का द्वार भी खटखटाया। न ही किसी धनीमानी के पास अपना दुखड़ा सुनाने गई। क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास था कि राजाओं के राजा तो श्री भगवान ही हैं। जिन्होंने भी उस प्रभु का आंचल पकड़ा, वे निश्चिन्त हो गये।

ईश्वर की शरण ही सुरक्षित स्थान है। मनुष्य को दृढ़ चित्त होकर अपना मन उसमें लगाकर लौकिक सहारा प्राप्त करना चाहिए जिसने यह कार्य किया उसका जन्म सफल हो गया। क्योंकि मनुष्य जन्म पाकर जो आनन्द प्राप्त किया जा सकता है वह यही तो है। वह आनन्द अर्थात् प्रभु की शरण में जाकर उनकी भक्ति करने का अवसर अन्य किसी योनि में प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में आनन्द नाम ही उसका है जो आनन्दस्वरूप हो जाना, परम पद को पा लेना, जीव से ब्रह्म बन जाना अथवा मोक्षधाम में पहुँच जाना। ये सब एक ही हैं। जिन–जिन भक्तों के उदाहरण मिलेंगे, जिन्होंने कोटि–कोटि लोगों अथवा राजा महाराजाओं पर विजय प्राप्त की उन्होंने यही भक्तिवाला मार्ग ही स्वीकार किया था।

ध्रुव की माता ने जैसे उसे सत्य का मार्ग दिखलाकर उच्च शिखर पर पहुँचाया, वैसे ही हमारे सच्चे माता–पिता श्री सद्गुरूदेवजी जो हमारे अत्यन्त हितैषी हैं, उन्होंने भी हमें सच्चे नाम की ओर चलने का उपदेश दिया है और हमको इधर–उधर भटकने से रोका है। मनमति के अनुसार चलना तो पानी बिलोना है, इससे तत्व वस्तु कोई भी प्राप्त नहीं होती, हानि ही होती है। उसी समय को व्यर्थ में खो देना और समय पर भक्ति कर लेना इनमें से हम घाटे वाला काम क्यों करें।

श्री परमपावन गुरूदेवजी के पास एक शिष्य आया। उसने विनय की कि आजकल मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा विपरीत हो गया है कि जो भी काम करता हूँ, उसका परिणाम उल्टा ही निकलता है। मैं तो अपनी बुद्धि से सम्पूर्ण उपाय करके थक गया हूँ और अब मैं आपकी शरण में आया हूँ। मुझे आप कोई ऐसी युक्ति बता दीजिये कि जिससे चित्त को शान्ति मिले। शिष्य की यह प्रार्थना सुनकर गुरूदेव जी ने कहा–

यदि मानव के अपने हाथ में कुछ होता तो सारी सृष्टि सुखी और आनन्दित हो जाती, परन्तु यह कला तो प्रभु ने अपने हाथ में रखी है। जो अपनी चतुराइयों को एक ताक पर

रखकर उसकी शरण में जाता है तो वह उस की देन को पाकर परमानन्द को पा लेता है। हमने जो आपको नाम–मन्त्र का उपदेश दिया है तुम उसकी कमाई करोगे तो तुम्हें उन्नति का फल मिलेगा, क्योंकि वह नाम–मन्त्र प्रभु का ही रूप है। जब प्रभु आपके साथ होंगे तो दुःख–क्लेश आपको छू भी न सकेंगे। तुम्हारा मन जब नाम–मन्त्र में रम जायेगा तो प्रभु तुम्हारे संग–संग होगा।

देखिये, कितना स्वच्छ और सुन्दर आशीर्वाद से भरा हुआ वचन है? इस पर आचरण करना ही सब दुःखों से छुटकारा पाने का सही प्रयत्न है। जितनी भी सृष्टि दुःखी है वह सब इसी वचन का उल्लंघन करने के कारण ही आकुल है। इस संसार का जितना अपनी बुद्धि पर विश्वास है उतना प्रभु की शक्ति पर नहीं है। इसलिए वे इस महावरदान से वंचित रह जाते हैं। तुम चिन्ता और चातुर्य को त्यागकर उठते–बैठते, सोते–जागते हरि का स्मरण करो।

आश्रम समाचार

आनन्दकन्द महाप्रभु जी के 133वें प्राकट्य दिवस के उपलक्ष्य में अप्रैल 14 से अप्रैल 20 तक श्री मद्भागवत कथा का आयोजन किया गया। कथा व्यास श्री पुरुषोत्तम शरण रहे। आश्रम के वार्षिक उत्सव के क्रम से 19 से 21 अप्रैल तक यथापूर्व कार्यक्रम चलता रहा। 20 अप्रैल के योग के आसन एवं प्राणायाम और षटकर्मों का प्रदर्शन कराया गया। कार्यक्रम अल्प लॉकडाउन के कारण संक्षेप में ही रखा गया। 21 अप्रैल को सामूहिक भण्डारे के साथ ही कार्यक्रम की समाप्ति कर दी गई। हवन यज्ञ का भी कार्यक्रम रहा। ब्रह्मभोज कोरोना के कारण स्थगित किया गया।

पंचवाद–दर्शन–समन्वय

कालवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद, पौरुषवाद, नियतिवाद और समन्वयवाद

–उपाध्याय श्री अमरमुनि

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना अधिक विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्म–भूमि है। यहाँ भिन्न–भिन्न दर्शनों के भिन्न–भिन्न विचार बिना प्रतिबन्ध और नियन्त्रण के फलते–फूलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए तो एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतः यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में इन दर्शनों का अस्तित्व था और आज भी बहुत–से लोग इन दर्शनों के विचार रखते हैं।

लम्बी चर्चा में उतरने से पहले उन पाँचों दर्शनों के नाम बताए देते हैं। पाँचों के नाम इस प्रकार हैं–1. कालवाद, 2. स्वभाववाद, 3. कर्मवाद, 4. पौरुषवाद, 5. नियतिवाद। इन पाँचों दर्शनों का परस्पर में संघर्ष है और प्रत्येक दर्शन परस्पर एक–दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

1. कालवाद

कालवाद का दर्शन बहुत पुराना है। वह काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही कार्य का अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइये, वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा, और बोलेगा। जो बालक आज किलो भर का पत्थर नहीं उठा सकता, वह काल–परिपाक के बाद युवा होने पर मन भर के पत्थर को उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है। क्या आज ही उसके मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षों

के बाद कहीं आम्र फलों के दर्शन होंगे। ग्रीष्म–काल में ही सूर्य तपता है। शीतकाल में ही शीत पड़ती है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी–मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। यह काल की महिमा है।

2. स्वभाववाद

स्वभाववाद का दर्शन भी कुछ कम नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े पैने तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो भी कार्य हो रहे हैं, सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते।

आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है, तो क्या वह निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को गुड़ और घी से सींचते रहिये, क्या वह मधुर हो सकता है, दही बिलौने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं, क्योंकि दही में मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गरम है, जल का स्वभाव शीतल है, सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है और तारों का स्वभाव है रात में चमकना। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष बेचारे काल आदि क्या कर सकते हैं।

3. कर्मवाद

कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत चिर–प्रसिद्ध दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार में सर्वत्र कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए–एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान् होता है, दूसरा मूर्ख। ऊपर का वातावरण तथा रहन–सहन एक होने पर भी भेद क्यों है? मनुष्य के नाते एक समान होने पर भी कर्म के कारण भेद है। बड़े–बड़े बुद्धिमान, चतुर पुरुष भूखों मरते हैं, और वज्रमूर्ख गद्दी–तकियों के सहारे सेठ बनकर आराम करते हैं। एक को माँगने पर भीख भी नहीं मिलती, दूसरा रोज हजार–बारह सौ रुपये खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपड़े के नाम पर चिथड़े भी नहीं हैं और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दों पर लेट लगाते हैं। यह सब क्या है, अपने–अपने कर्म हैं। राजा को रंक और रंक को राजा बनाना, कर्म के बाएँ हाथ का खेल है। तभी तो गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–''गहना, कर्मणो गतिः।'' अर्थात् कर्म की गति बड़ी गहन है।

4. पौरुषवाद

पुरुषार्थवाद का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल में कर्त्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या हो जायेगा? आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में आम का पेड़ लग जायेगा? कर्म का फल भी, क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से मिल जायेगा? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है।

आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को काट रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् अविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है। यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है? एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है। वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है और गले में नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख बुझ जायेगी? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। तभी तो कहा है–

''पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो।''

5. नियतिवाद

नियतिवाद का दर्शन जरा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि–संसार में जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन होते हैं। सूर्य पूर्व में ही उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यों नहीं? पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं, गधे घोड़े क्यों नहीं? हंस श्वेत क्यों हैं? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के दो ही क्यों हैं? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम में उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे घोड़े आकाश में उड़ने लगें, तो फिर संसार में कोई

व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः नियति ही सबसे महान है। कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी कहते हैं। जो होनहार है, वह होकर रहती है, उसे कोई टाल नहीं सकता।

तुमने देखा उपर्युक्त पाँचों वाद किस प्रकार अपने–अपने विचारों की खींचतान करते हुए दूसरे विचारों का खण्डन करते हैं। इस खण्डन मण्डन के कारण साधारण जनता में भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। वह सत्य के मूल मर्म को समझने में असमर्थ है। भगवान् महावीर ने विचारों के इस संघर्ष को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने उन्होंने वह सत्य प्रकट किया जो किसी का खण्डन नहीं करता, अपितु सबका समन्वय करके जीवन–निर्माण के लिए उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

समन्वयवाद

भगवान् महावीर का उपदेश है कि पाँचों ही वाद अपने–अपने स्थान पर ठीक हैं। संसार में जो भी कार्य होता है वह इन पाँचों के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे।

बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़कर सबका समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किये, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। हाँ, आग्रह से कदाग्रह और कदाग्रह से विग्रह पैदा होता है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों। परन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली आम में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँच कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी थोड़ा ही तैयार हो जायेगा? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का। कभी–कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही, निर्यात। वह सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे किसे इन्कार हो सकता है? और आम होना होता है, तो होता है, नहीं होना होता है, तो नहीं होता। हाँ या ना, जो होना है, उसे कोई टाल नहीं सकता।

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप

स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम नियति एवं भवितव्यता का भी ध्यान रखा जाए; तभी वह पढ़–लिखकर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय ही, वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखला सकता है।

विचारों के भँवरजाल में आज मनुष्य की बुद्धि फँस रही है। एकान्तवाद का आग्रह लिए वह किसी भी समस्या का समाधान नहीं पा रहा है। समस्या का समाधान पाने के लिए उसे पंच–दर्शन के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समन्वयवाद को समझना होगा।

शोक–संवेदना

1. बड़े दुःख की बात है कि कछवा मिर्जापुर निवासी श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह जी का 9 अप्रैल को 92 वर्ष की आयु में निधन हो गया। वे गुरुदेव के पुराने शिष्यों में से एक थे और बड़े ही गुरु भक्त थे। श्री प्रभु जी उन्हें अपने चरणों में स्थान दें।
2. लखनऊ निवासी श्री रुद्रदत्त चतुर्वेदी की धर्मपत्नी प्रो. रेखा चतुर्वेदी का 18 अप्रैल को निधन हो गया। वे गुर्दे के रोग से पीड़ित थीं। 72–73 वर्ष की थीं वे। प्रभु उन्हें भी अपने चरणों में स्थान दें।
3. रायबरेली–सीवन निवासी श्री सुशील तिवारी का 19 अप्रैल को कोरोना से देहावसान हो गया है। प्रभु उन्हें अपने चरणों में स्थान दें। दुःखी परिवार को दुःख सहन करने की शक्ति दें।
4. टूण्डला निवासी श्री वीरेश्वर चौहान का 18 अप्रैल को देहावसान हो गया है। प्रभु जी उन्हें सद्गति दें तथा परिवारी जनों को दुःख सहन करने की क्षमता दें।
5. हरिद्वार निवासी ब्रह्मचारी राजेश शर्मा का 25 अप्रैल को देहावसान हो गया है। ये गुरुदेव के पुराने साधकों में से एक थे। प्रभु उन्हें अपने चरणों में स्थान दें तथा दुःखी परिवार को दुःख सहन करने की शक्ति दें।

—सम्पादक

सिद्धयोग मासिक

मन की बाल्टी

कल मैं एक बगीचे में गया। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास लगी थी। उसने बाल्टी कुए में डाली। कुआ गहरा था। बाल्टी खीचने में श्रम पड़ा, पर बाल्टी जब लौटी तो खाली थी। सब हंसने लगे।

मुझे लगा बाल्टी तो मनुष्य के मन जैसी है। उसमें छेद ही छेद थे। बाल्टी नाम मात्र की थी, बस छेद ही छेद थे, पानी भरा था, पर सब बह गया। ऐसा ही मन भी हमारा छेद ही छेद है। इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेंको, वह खाली ही वापिस लौट आता है।

मित्र पहले बाल्टी ठीक कर लें, फिर पानी खींच लेना एक दम आसान है। हाँ, छेदवाली बाल्टी से तपश्चर्या तो खूब होगी, पर तृप्ति नहीं। और स्मरण रहे कि प्रभु न कृपालु है न अकृपालु। बस आपकी बाल्टी भर ठीक होनी चाहिए।

कुआ तो हमेशा पानी देने को राजी है। उसकी ओर से कभी कोई इनकार नहीं है।

–आचार्य रजनीश

●●●

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23 MAY-JUNE 2021

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ________________

____

____

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्धया तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्।।

जो एकान्त में पड़े हुए दूसरे के स्वर्ण को देखकर भी उसे अपनी बुद्धि के द्वारा तृण के समान समझता है और निरन्तर भगवान् का अनन्य भाव से चिन्तन करता है उस नर श्रेष्ठ को तुम विष्णु का भक्त जानो।

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा